https://artorbit.in/
Art Orbit - Volume 01, No 03, SEP 2025 PP 63-68 (Total PP 06)
ISSN : 3107- 670X (Online)
Frequency – Monthly
Chaube – Interrelationship Between Art, Folk Art And Society

INTERRELATIONSHIP BETWEEN ART, FOLK ART AND SOCIETY (कला, लोककला और समाज का अंतरसंबंध)

Dr. Veena Chaube[a]*

[a] *Professor (Painting), Government Maharani Laxmibai Girls Post Graduate College, Bhopal*

[a]*Email: veenachaubay@gmail.com*

Abstract

Art and society have an unbreakable bond. Initially, there was no distinction between what was useful and what was beautiful, and most useful tasks were understood in terms of art. A weaver who weaves cloth, a gardener who makes garlands, a potter who makes pots, all exhibit artistic qualities. This means that useful objects were created to fulfill the needs of society. In the creation of these useful objects, artistic qualities are expressed with great technical skill. Social needs began to be fulfilled through artistic qualities. Some scholars believe that excellent art cannot be created without an organized society. There are many elements that influence art, and society is considered one of these influential elements. The roots of art are deeply spread in society, from where they receive energy, life, and expression. From this perspective, there are two forms: (1) individual and (2) collective. Both types of art are influenced by society. Art has an unparalleled ability to influence the public mind. Universally accepted art forms are also superior in their expression and aesthetic qualities, which is why they are universally accepted. Art forms also sow life values and philosophies, which are invaluable heritage of any culture, whose subjects and forms are determined according to the needs of society. Art has directly accepted real-life subjects from human society as its content. Thus, it has been observed that in every era, a specific idea or philosophy influences society, and it affects every aspect of life. Art is something that provides entertainment to society, uplifts moral character, alleviates mental suffering, and develops aesthetic sense. Art is a powerful medium of communication. Art cannot be judged solely on the criteria of entertainment, sensual pleasure, and superficial joy. The art prevalent in society reflects its character, culture, and values, but the goal of art is not social or religious. However, if it accomplishes this task while preserving its artistic values, and if the subject matter and form plans are religious and social, then the presence of subject matter does not hinder it. An example of this is seen in the art and sculpture of Ajanta, where artistic qualities do not diminish even with the presence of subject matter.

कला व समाज का 'अटूट संबन्ध है। प्रारम्भ में उपयोगी व सुन्दर के बीच कोई भेद नहीं था और अधिकतर सभी उपयोगी कार्यों को भी कला के अर्थों में ही समझा जाता था। एक कपड़ा बुनने वाला बुनकर, माला बनाने वाला माली, पात्र बनाने वाला कुम्हार सभी कलात्मक गुणों को प्रकट करते हैं। इसका अर्थ यह निकलता है कि समाज की आवश्यकता की पूर्ति के लिए उपयोगी वस्तुओं का सृजन किया गया। इन उपयोगी वस्तुओं के सृजन में अधिकाधिक कलात्मक गुंण तकनीकी कुशलता से प्रकट होते हैं।

सामाजिक आवश्यकताओं को कला गुणों द्वारा पूर्ण किया जाने लगा। कुछ विद्वानों का मानना है। कि बिना संगठित समाज के उत्तम कला का सृजन नहीं हो सकता। कला को प्रभावित करने वाले बहुत से तत्व होते हैं जिनमें समाज भी एक प्रभावकारी तत्व माना गया है, कला की जड़े-समाज में बहुत गहरी फैली होती हैं वहीं से उन्हें ऊर्जा, जीवन व अभिव्यक्ति मिलती है, इस दृष्टि से (1) वैयक्तिक (2) सामुहिक दो रूप होते हैं दोनो ही प्रकार की कलाएं समाज से प्रभावित होती है, कला लोक मानस को प्रभावित करने की अतुलनीय क्षमता रखती है सर्वमान्य कला रूप भी अपनी अभिव्यक्ति व सौन्दर्य गुणों में श्रेष्ठ होते हैं तभी सर्वमान्य होते हैं, और कला रूपों से ही जीवन मूल्यों दर्शन भी बोते हैं जो किसी भी संस्कृति की अमूल्य धरोहर हैं जिनके विषय व रूप समाज की आवश्यकताओं के अनुसार निर्धारित होते हैं।

कला ने मानव समाज के यथार्थ विषयों को सीधे ही जीवन से लेकर विषय-वस्तु को स्वीकार किया गया है। इस प्रकार देखा गया की समाज में हर काल में एक विशिष्ट विचार या दर्शन का प्रभाव रहता है, और वह जीवन के हर क्षेत्र को प्रभावित करता है।

कला समाज के लिए मनोरंजन प्रदान करने वाली, नैतिक चरित्र उत्थान करने वाली, मानसिक पीड़ा हरने वाली, सौन्दर्य बोध को विकसित करने वाली वस्तु है। कला सम्प्रेषण का सशक्त माध्यम है। मनोरंजन, इन्द्रिय सुख व उथले आनन्द की कसौटी पर ही कला को नहीं आंका जा सकता, समाज में व्याप्त कला उसके चरित्र, संस्कृति व मूल्यों को प्रदर्शित करती है किन्तु कला का लक्ष्य सामाजिक धार्मिक नहीं है, पर यदि वह अपने कलामूल्यों को सुरक्षित रखते हुए भी यह कार्य सम्पन्न करती है और विषयवस्तु व रूप योजनाएं धार्मिक व सामाजिक होती हैं तो विषयवस्तु का होना बाधा नहीं डालता, जिसका उदाहरण अजन्ता की कला व मूर्तिशिल्प में हुआ है, कलागत विशेषताएं विषय वस्तु के होने पर भी कम नहीं होती।

https://artorbit.in/
Art Orbit - Volume 01, No 03, SEP 2025 PP 63-68 (Total PP 06)
ISSN : 3107- 670X (Online)
Frequency – Monthly
Chaube – Interrelationship Between Art, Folk Art And Society

Keywords: Tribal Art, Tribal Art, Prehistoric Period, Society, Art, Culture, Life Values, Cave Paintings, Tradition, Dance, Language, Craft Art, Folktales, Theater, Singing, Instrumental Music, Birsa Munda, Tribal Pride Day, Ajanta, Bhimbetka

आदिवासी कला, जनजातीय कला, प्रागैतिहासिक काल, समाज, कला, संस्कृति, जीवन मूल्य, गुफा चित्रकला, परंपरा, नृत्य, भाषा, शिल्प कला, लोक कथाएँ, रंगमंच, गायन, वादन, बिरसा मुंडा, जनजातीय गौरव दिवस, अजंता, भीमबेटका

---

* Corresponding author.

कला व समाज का 'अटूट संबन्ध है। प्रारम्भ में उपयोगी व सुन्दर के बीच कोई भेद नहीं था और अधिकतर सभी उपयोगी कार्यों को भी कला के अर्थों में ही समझा जाता था। एक कपड़ा बुनने वाला बुनकर, माला बनाने वाला माली, पात्र बनाने वाला कुम्हार सभी कलात्मक गुणों को प्रकट करते हैं। इसका अर्थ यह निकलता है कि समाज की आवश्यकता की पूर्ति के लिए उपयोगी वस्तुओं का सृजन किया गया। इन उपयोगी वस्तुओं के सृजन में अधिकाधिक कलात्मक गुण तकनीकी कुशलता से प्रकट होते हैं।

सामाजिक आवश्यकताओं को कला गुणों द्वारा पूर्ण किया जाने लगा। कुछ विद्वानों का मानना है कि बिना संगठित समाज के उत्तम कला का सृजन नहीं हो सकता। कला को प्रभावित करने वाले बहुत से तत्व होते हैं जिनमें समाज भी एक प्रभावकारी तत्व माना गया है, कला की जड़े-समाज में बहुत गहरी फैली होती हैं वहीं से उन्हें ऊर्जा, जीवन व अभिव्यक्ति मिलती है, इस दृष्टि से (1) वैयक्तिक (2) सामुहिक दो रूप होते हैं। दोनो ही प्रकार की कलाएं समाज से प्रभावित होती है, कला लोक मानस को प्रभावित करने की अतुलनीय क्षमता रखती है। सर्वमान्य कला रूप भी अपनी अभिव्यक्ति व सौन्दर्य गुणों में श्रेष्ठ होते हैं, तभी सर्वमान्य होते हैं, और कला रूपों से ही जीवन मूल्यों, दर्शन भी बोते हैं जो किसी भी संस्कृति की अमूल्य धरोहर हैं जिनके विषय व रूप समाज की आवश्यकताओं के अनुसार निर्धारित होते हैं ।

मानव एक सामाजिक प्राणी है । सामाजिक पर्यावरण के अनुकूल ही उसका व्यवहार विकसित होता है। जन्म से ही उसमें सामाजिक तत्व निश्चित रूप से होते हैं। शैशवावस्था से ही वह अपने परिवार के सदस्यों के सम्पर्क में रहकर सामाजिक नियमों का अभ्यस्त हो जाता है।

जीवन के आरम्भ से लेकर अन्त तक वह अनेकानेक लोगों के सम्पर्क में आता है और उनका प्रभाव भी उस पर पड़ता है, उसका प्रत्येक कार्य समाज की सीमाओं में होता है, परन्तु उसके मन पर "विभिन्न प्रकार अनुभवों और परिस्थितियों का भी प्रभाव पड़ता है। जिसे वह अपनी कलात्मक क्षमता से व्यक्त करता है, इसीलिए कहा गया है कि समाज की संस्कृति का एक अटूट अंग कला भी है जो महत्वपूर्ण है, जो समाज को पारम्परिक रूप से आगे बढ़ाने में सहयोगी होता है, इस प्रकार कला सदैव जीवित रहती है ।

कला और समाज एक अटूट रिश्ता साझा करतें है, चित्रकला समाज के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए निर्मित की जाती है, कलाएं सामाजिक तथ्यों के प्रति सदैव उत्तरदायी रही हैं तथा इनमें समाज की इच्छाओं की अभिव्यक्ति होती है, कलाकार बाह्य जगत के रूप-स्वरूप, गतिविधियों एवं समाज की भावनाओं से सम्बन्ध बनाकर ही सृजन करता है। परिणाम स्वरुप कला का रूप विश्वव्यापी होता है।

कला के अधिकांश विषय समाज और समाज की समस्याएं ही होते हैं, जिनका आंकलन कला का मुख्य उद्देश्य इस उद्देश्य से किए गए सृजन में समाज के व्यक्तित्व को बृहद रूप में गृहण किया जाता हो और समाज की आवश्यकता का प्रतिविम्ब उसके सृजन में स्पष्ट झलकता है। अतः इसके लिए कला के दो रूप बताए गए हैं, या दो स्थितियां है इनमें पहली स्थिति में कलाकार का उद्देश्य-अभिव्यक्तिकरण के माध्यम से केवल आत्म शान्ति प्राप्त करना ही होता है, आत्मविभोरता की इस स्थिति में उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वह स्वयं अपना मार्ग चुनता है।

लेकिन वह समाज से कभी अलग नहीं होता, इस स्थिति में उसे अपने लक्ष्य की और सजग रहने की आवश्यकता नहीं रह जाती है। जिसमें सृजित कला का रूप शुद्ध और मौलिक होता है- "दूसरी परिस्थिति में लक्ष्य पूर्ति के लिए कार्य का स्वरूप व्यवहारिक बन जाता है एवं मौलिकता उससे दूर हो जाती है।"

जब पहली स्थिति में कलाकार समाज के साथ तारतम्य स्थापित न कर पाने के कारण सम्मान, प्रोत्साहन और प्रेम को प्राप्त नहीं कर पाता है। तब समाज की भावनाओं के साथ तादात्म्य स्थापित करने के लिए उसे दूसरी स्थिति को अपनाना होता है। "पहली स्थिति में ललित कलाओं को विकसित होने का अवसर मिलता है। जो कला के मौलिक और शुद्ध रूप है"

"दूसरी स्थिति में व्यापारिक कला तथा शिल्प कला को जन्म मिलता है, जो कला के परिवर्तित स्वरुप हैं, कला के ये दोनों रूप युग-युगान्तर से विद्यमान हैं, पहले रूप का अस्तित्व कला की मौलिकता और शुद्धता के कारण उसकी शक्ति पर आधारित है तथा इसका अस्तित्व समाज की आवश्यकता और इच्छाओं के बल पर निर्भर करता है। समाज के मूल और शुद्ध रूप को भी छोड़ सकता" समय, परिस्थिति और समाज आवश्यक्ताओं के अनुसार व्यापारिक कला और शिल्प भी सामान परिवर्तनों के साथ विकसित होते रहते हैं ।

इतिहास भी बताता की भारतीय समाज में संस्कृति और सभ्यता के विकास की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई है उनमें कलाओं का महत्वपूर्ण स्थान रहा है । भारत का हर युग अपने समय में किसी न किसी रूप में कलाओं को समेटे हुए है, यही बात दर्शाती है कि कलाओं की स्थिति विविध संकटों के समय में भी कुछ ना कुछ नूतन प्राप्त करवाती रही है। यही कारण है कि भारतीय समाज में (परिवेश) व्यक्ति को साहित्य, संगीत, और कलाओं के बिना पशुवत देखा जाता रहा है इसीलिए कहा गया है

"साहित्य संगीत कला विहिन: । साक्षात पशु विषाण हीन:" ।।

यह श्लोक भर्तृहरिविरचित नीतिशतकम् ग्रन्थ से किया गया है कला की प्रकृति सामाजिक हो इस विषय में राल्सटाय ने इस प्रकार लिखा है, "कोई वास्तविक कला नहीं हैं, जब तक इसका निर्माणकर्ता अनुभवों के अनुसार बिम्ब विकसित नहीं करता है

जिसके लिए पर्यावरण की बहुत आवश्यकता होती है, यहाँ पर्यावरण से तात्पर्य सामाजिक वातावरण से है। इस प्रकार समाज कलाकार को दिशा देता है और वह भिन्न अनुभवों के आधार पर कला रचना करता है। जबकी कल्पना मनुष्य का स्वभाविक गुण है जो उसकी कला रचना में सहयोग करता है, कल्पना भी सामाजिक अनुभवों में ही पाई जाती है।

बचपन से लेकर सारे जीवन मे समाज में घटित घटनाओं का, वातावरण का कलाकार के चैतन-अवचेतन मन पर प्रभाव पड़ता है सम्पूर्ण व्यक्तित्व कहीं ना कहीं प्रभावित होता है, मनोवैज्ञानिकों के अनुसार प्रत्येक मनुष्य अपने समाज में ही विकसित होता है। उसकी मूल प्रवृत्तियां सामाजिक वातावरण के अनुसार विकसित और परिष्कृत होती हैं, उसका प्रकृति मूलक व्यवहार पर तीन प्रकार से प्रभाव पड़ता है 1. अनुकरण, 2 व्यंजना, 3 संवेदना आदि ।

अनेक बातों को जानने और सीखने के लिए हम दूसरों का अनुकरण करते हैं, अन्य लोगों के कार्यों व शब्दों आदि से हमारे मन में उनके कुछ अर्थ और प्रयोजन जागृत होते हैं। इस विधि से प्रत्येक व्यक्ति की मानसिक प्रक्रिया सामुदायिक चेतना का रूप ले लेती है और इसका उदाहरण कला की जननी लोक कला या लोक कलाओं में रचा-बसा पड़ा है। हम इसे सामाजिक होते हुए नकार नहीं सकते, बल्कि यह कहा जाए कि समाज का एक हिस्सा इन पर ही आधारित है ।

लोक कला में सामूहिक चेतना को आसानी से देखा जा सकता है, शैली व परम्पराएं इसके आधार पर पल्लवित होती हैं, किसी भी प्रकार की अभिव्यक्ति कला की सभी शर्ते पूरी करती है। आधिकाधिक व्यक्तियों को अपनी और आकर्षित करती है व सौन्दर्यपूर्ण हो वह लोकप्रिय हो जाती है, इसे इस तरह भी समझा जा सकता है कि "कोई भी कला शैली लोक मानस पर छा कर अभिव्यक्ति के प्रस्तुतिकरण में परम्परा बन जाति है"

सामुहिक चैतना में निम्नलिखित विशेषताएं समान मानी गई हैं -

1. परम्परागत गुण (रीति रिवाज)
2. जातीय विशेषताऐं व प्रक्रियाएं
3. समान विश्वास
4. समान सामुदायिक भावनाएं
5. नैतिक, बौद्धिक परम्पराएं
6. कला साहित्य
7. मौखिक ज्ञान व विचारधारा

समस्त कलाएँ मनुष्य की सौन्दर्यवृत्ति का परिणाम हैं। अपने चारों ओर के वातावरण से प्रेरित होकर मनुष्य में जो सौन्दर्य-धारणा उत्पन्न होती है वही कलाओं में प्रतिफलित होती है। वातावरण और परिस्थितियाँ सामाजिक विकास की गति निश्चित करते हैं और सामाजिक विकास अपने प्रत्येक चरण में मानसिक संघटन को एक निश्चित दिशा प्रदान करता है, जिसे सांस्कृतिक युगों में बाँटा जा सकता है। प्रत्येक युग की कलाओं को बाहरी रूप में जहाँ उपकरणों के साथ-साथ किसी कलात्मक माध्यम की आवश्यकता होती है वहाँ सामाजिक विकास रूपी आन्तरिक माध्यम की भी आवश्यकता होती है। वस्तुतः आन्तरिक माध्यम बाह्य उपकरणों को भी प्रभावित करता है। सामाजिक विकास के ये चरण 'सामाजिक तथ्य' भी कहे जाते हैं।

समाज के विकास में एक युग ऐसा भी था जब समान विश्वास एवं समान वृत्ति वाले व्यक्तियों के समूह आर्थिक, सामाजिक एवं मानसिक रूप से एक-दूसरे पर निर्भर थे। उनके लिए कला की व्यंजना और जीवन के संघर्ष में अन्तर नहीं था। इस समाज की विशिष्ट आर्थिक परिस्थितियाँ थीं। उत्पादन के साधनों पर सबका सम्मिलित अधिकार था। सामाजिक विकास की इस अवस्था में कला भी सामाजिक एवं सामूहिक थी। यह आदिम व्यवस्था थी।

कला के माध्यम का दूसरा स्वरूप मनुष्य के मानसिक विकास से सम्बन्धित है। प्रत्येक मनुष्य के जीवन में शैशव, यौवन तथा वृद्धावस्था का आगमन होता है। ये अवस्थाएँ भी कला के माध्यम के निर्णय में महत्वपूर्ण तथ्य हैं। विशेषकर बचपन की सहज-सुलभ कलाकृतियों में अचेतन की अद्भुत छाया मिलती है। सभ्यता और कला के विकास के अध्ययन की दृष्टि से ही नहीं वरन् बालक के व्यक्तित्व 3 के विकास एवं शिक्षा के माध्यम के रूप में भी बाल-कला अत्यन्त महत्वपूर्ण समझी जाती है। बालकों की कला में विश्वजनीनता होती है। संसार के सभी देशों के बालकों की कलाकृतियों में अद्भुत समानता मिलती है।

कला के माध्यम का तीसरा स्वरूप समाज की विकसित अवस्था से सम्बन्धित है। यहाँ आर्थिक उत्पादन के उन्नत साधन होते हैं: समाज में श्रम का विभाजन विविध और जटिल हो जाता है। प्रत्येक कार्य की सूक्ष्मताओं का अध्ययन होने लगता है और अनेक सामाजिक संस्थाओं का उदय होता है। श्रम का विभाजन होने से समाज में सुविधा प्राप्त और सुविधा हीन वर्गों का विकास होता है। सम्पन्न वर्ग की कला अधिकाधिक बौद्धिक बनने लगती है, इसी को सुसंस्कृत कला कहा जाता है। प्राचीन आदिम कला में से एक ओर सुसंस्कृत कला का और दूसरी ओर लोक-कला का विकास होता है। एक में प्रतिभा को सहारा मिलता है तो दूसरी को औसत सामाजिक जीवन का सहारा प्राप्त होता है।

इस प्रकार व्यक्ति और समाज की अवस्थाओं के आधार पर कला के तीन प्रधान माध्यमों का निर्माण हुआ है और तीसरा माध्यम पुनः दो भागों में बँट गया है। पहले दो माध्यमों का अस्तित्व व्यक्ति और समाज की स्थिति विशेष के उपरान्त समाप्त हो जाता है है किन्तु तीसरे माध्यम के दोनों रूप-शास्त्रीय कला और लोक-कला-सदैव चलते रहते हैं। शास्त्रीय कला जहाँ व्यक्तिनिष्ठ होती जाती है वहाँ लोक-कला सदैव समाजनिष्ठ रहती है। बाल कला अपने सीमित वातावरण से प्रभावित होकर मानसिक विकास के अनुसार पनपती है। बालक अपने विषयों का चुनाव प्रभाव एवं रुचि के अनुकूल करता है। वह वस्तु को यथातथ्य नहीं बना सकता क्योंकि उसका टेक्नीक परिमार्जित नहीं होता। कलाकृति में वह अपने 'मन' को ही व्यक्त करता है। आदिम कला को तत्कालीन समाज का प्रतिबिम्ब कहा जासकता है। बाल-कला जहाँ बालक के आनन्द अथवा शिक्षा का माध्यम होती है वहाँ आदिम कला सामाजिक तथ्यों के प्रति उत्तरदायी होती है। इन दोनों की तुलना में लोक कला पर्याप्त भिन्न है। उसमें बाल-सुलभ सहजता भी है और आदिम सामाजिकता भी है।

शास्त्रीय कला का गम्भीर चिन्तन उसमें नहीं है। यह ठीक ही कहा गया है कि लोक कला का माध्यम बालक की अवस्था और आदिम समाज की व्यवस्था की समाप्ति के बाद ही अस्तित्व में आता है और वह समाज के निश्चित सौन्दर्य-विज्ञान की कसौटी पर खरा उतरने वाले शास्त्रीय माध्यम के समान्तर चलता है। किन्तु लोककला के माध्यम में आनन्द लेने वाले समाज के बहुसंख्यक लोग सौन्दर्य-विज्ञान को सहज श्वास की तरह ही स्वीकार करके चलते हैं। न कोई लोक कला के माध्यम को गम्भीर चिन्तन का विषय बनाता है और न ही कोई उसकी सौन्दर्य-सृष्टि को नियम-बद्धता अथवा शास्त्रीयता की व्याख्या में पिरोने का प्रयत्न करता है।

अतः शास्त्रीय कलाओं के अनेक नियम-उपनियम बन गये हैं किन्तु लोक कला में नियमों का विचार प्रारम्भ ही नहीं हुआ लोक कलाकृतियाँ लोक-सापेक्ष होती हैं। उनमें निहित भावनाएँ किसी एक व्यक्ति से सम्बन्धित न होकर समस्त समाज से सम्बन्धित होती हैं। लोक-कलाकार ऐसे वातावरण में कार्य करता है जहाँ उसकी परम्पराओं का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं होता। परम्परागत रूपों में भी दैनिक जीवन की आवश्यकतानुसार परिवर्तन आते रहते हैं और तदनुसार कलाकृतियों में भी यत्किंचित् सुधार कर दिया जाता है। लोक-कला के रूप दैनिक जीवन से पूर्णतः सम्बन्धित होते हैं। समाज में इस प्रकार की पहली परिस्थिति शक्ति और वैभव की सम्पन्नता है। यह कला का सृजन तो नहीं करती पर उस पर अंकुश अवश्य रखती है। जो व्यक्ति अथवा संगठन अधिक शक्तिशाली होते हैं वे कलाओं की सहायता से अपने स्वरूप को अलंकृत करते हैं। प्रायः धर्म तथा राज्य इस शक्ति के केन्द्र बने हुए हैं। आदिम समाज में सरदार एवं ओझा इसका आधार था। जहाँ यह शक्ति किसी कला का प्रयोग करने लगती है वहाँ कला सुसंस्कृत होने लगती है और लोक में उसका अनुकरण लोककला के रूप में होने लगता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि धनिक वर्ग की कला सुसंस्कृत और निर्धनों की कला लोक-कला कहलाती है। इसका अर्थ केवल यही है कि जिन अभिप्रायों का यह शक्ति प्रयोग करती है वे ही सम्पूर्ण समाज में प्रचलित हो जाते हैं और लोक-कलाकार उन्हें अपने ढंग से प्रयुक्त करके लोककला को जन्म देते हैं। लोक-कला में सामाजिक संस्कृति की महत्वपूर्ण विशेषताएँ भी प्रतिध्वनित होती हैं। एक देश में जिस वस्तु का कोई महत्व नहीं है, दूसरे देश में वही वस्तु बहुत महत्वपूर्ण हो सकती है। सारडीनियावासी सोने के बटन लगाते हैं जबकि अफ्रीकावासी हड्डी के बटनों का उपयोग करते हैं। चीन में जूता बहुत सुन्दर एवं कलात्मक होता है। किसी अन्य देश में यह काला और भद्दा भी हो सकता है। इन रूपों के पीछे अनेक परम्पराएँ और भावनाएँ कार्य करती हैं।

लोककला की शैली पर वर्तमान युग में शास्त्रीय कलाओं तथा मनुष्य के रहन-सहन का बहुत प्रभाव पड़ा है। इससे उसकी कला का स्वरूप बहुत कुछ परिवर्तित हो गया है। इसी कारण प्राचीन एवं आधुनिक लोककला-कृतियों में पर्याप्त अन्तर आ गया है। इन रूपों में तारतम्य स्थापित करने के हेतु लोक-कला के सुनियोजित एवं गम्भीर अन्वेषण की आवश्यकता है।

समाज को इन सबके द्वारा कला के रूप में एक ऐसा माध्यम मिला जो जीवन को आधिकाधिक सुविधापूर्ण व आकर्षक बनाता हो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इन कलागुणों का योगदान रहा है साथ ही एक ऐसा माध्यम है जो एक से अनेक मानव मनों को प्रभावित कर सकता है,

सृजन में वह अपने अपने दैनिक जीवन से उठ कर उसे अपनी कला रचना को विस्तार देना होता है, यदि कला की रचना का क्षेत्र उसके अपनेपन तक सीमित हो तो कला का उदात्तपन शून्य हो जाएगा, कर्तव्य की भावना से देखा जाए तो रचनाकार को समाज को साथ लेकर चलना होता है ।

जहाँ समाज में मानवीय सम्बन्धो तथा अनुभवों के सामंजस्य की शक्ति घटती है, वहाँ सामाजिक परिस्थितियाँ अपने परिवेश के अनुकूल बनने की लौच को कम करती हैं । वहाँ कला एक अनुकूल वातावरण प्रदान करती है, "कला वास्तविकता से पलायन नही अपितु वह मानसिक जीवन के यतार्थ और सामाजिक वातावरण के प्राण को पौषित करती है" कला सामाजिक अनुभूति, और संवेग, रूप तथा प्रतीक में चाक्षुक अभिव्यक्ति है।

विभिन्न कालों तथा अनेक सभ्यताओं ने अधर्म और नैतिक मूल्यों के संवाहक का कार्य किया है, समाज के प्रत्येक भाग में कला ने सृजनात्मक शक्ति की प्रेरणा प्रदान की है मानव अनुभवों का बलिष्ट चाक्षुक रूप जो एकसाथ हो कला की देन है । इस प्रकार सौन्दर्य की भाषा मनुष्य के समाज के क्रिया कलापों, उत्सवों, परमपराओं आदि का संस्कार करती है । इसीलिए कला समाज के लिए जरुरी है और समाज कला के क्षेत्र में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है ।

विश्व की सभी सामाजिक अर्थव्यवस्थाएं मूलतः ग्रामीण कृषक थीं। अधिकांश लोग गाँवों में रहते थे और इन गावों के चारों ओर ही उनका जीवन घूमता रहता था तथा इसी परिवेश में लोगों की कल्पना तथा दृष्टि का मुख्य रूप से निर्माण होता रहा। जाति व्यवस्था पर आधारित सामाजिक संगठन में उनका जीवन परिचालित होता था और इसी प्रकार का सामाजिक संगठन ही ग्रामीण कृषि समाज की धुरी था। कुछ कला रूप लोगों की आवश्यकता के कारण उपजे थे तो कुछ परम्पराओं से। इस संगठन के इस प्रकार दौ रूप थे ।

लोक कला संस्कृति के लक्षणों व क्रियात्मकता का मूर्त रूप है व संस्कृति में व्याप्त भावों व विचारों को भी प्रदर्शित करती है किस प्रकार लोक कथाएं, लोक नृत्य, लोक चित्र आज भी महाभारत व रामायण के सुसंस्कृत ग्रन्थों को बहुत ही सरल ढंग से लोगों के समक्ष प्रस्तुत कर देती हैं।

समाजशास्त्रियों ने जिसे 'आदिम' या 'जनजातीय' कहकर संबोधित किया है उनकी कला व लोक कला में बहुत बारीक-सा अन्तर है। भिन्न-भिन्न समुदाय जो विकासमान अवस्थाओं के थे, उनकी सहजवृत्ति से जो कुछ सृजित हो गया वह जनजातीय हो गया। आज भी कुछ आदिवासी समुदाय ऐसे हैं जो प्रागैतिहासिक कालीन कला रूपों की भांति कला रूप सृजन करते हैं। साथ ही कुछ जातियां इस प्रकार विकसित हुई जो लोक संस्कृति में मिल गई और उनका अभिन्न अंग हो गई। बहुत सारे विचार व विश्वास व व्यवहार भी शामिल हो गए। देवी देवता, कथाएं, आख्यान, सभी इस प्रकार समाहित हुए कि उन्हें अलग कर पाना बहुत मुश्किल है।

कस्बों व नगरों में रहने वालों के लिए कला की श्रेष्ठ परम्पराएं संगहित थीं। इस श्रेष्ठ परम्परा ने जब भी आवश्यकता समझी कला, धर्म व साहित्य में उन तथाकथित 'आदिम' व 'ग्रामीण' अभिव्यक्ति की उपमाओं प्रतीकों, पुराण कथाओं, आख्यानों, रूपों व विचारों को ग्रहण किया।

शास्त्रीय वे मानी गई जो अभिव्यक्ति की द्रष्टि से उत्कृष्टता, परिष्कृत व बहुरूपता के ऐसे ऊंचे स्तरों पर पहुँच चुकी थी कि उनके उद्देश्यों व प्रयोजनों को निर्धारित किया गया । रूपों और विधाओं तथा मानव विचारों और भावों पर उनके प्रभाव के संबंध में विस्तृत विश्लेषण व वर्गीकरण कर उन्हें ग्रंथो में लिख लिया गया व नियम व सिद्धान्त बना लिए गए । अनुभवों व कला के प्रयोगों से ये जान लिया गया कि भावों की अभिव्यक्ति में कि रूप की या गति की क्या संभावना होती है। दूसरा पक्ष तकनीक व सामग्री का था। अपेक्षाकृत स्थायी सामग्री में इनका प्रयोग होने लगा, राजदरबारों में इन कलाकारों को नियुक्त किया गया। विद्वानों ने कला की प्रकृति, सामग्री व विधियों का वर्णन, कला रूपों के गुणों, दोषों का विश्लेषण, प्रतिमा विज्ञान, संगीत व नृत्य के शास्त्रों को लिखा गया।

शास्त्रीय कला ने लोक कला के प्रतीकों, रूपों को अपने शास्त्रीय नियमों में स्थान दिया। उदाहरण के लिए प्रारम्भिक बौद्ध कला, जैन व्याख्यात्मक कला, प्रारम्भिक राजस्थानी में देखा जा सकता है। इसका कारण दो तथ्यों में बताए जा सकते हैं कि पहला, ये लोक तत्व अपनी अभिव्यक्ति में श्रेष्ठ थे क्योंकि सीधे जीवन से उपजे थे, व उन लोगों में बहुत पसन्द किए जाते थे, दूसरे निरन्तर सृजन से तकनीकी कुशलता भी प्राप्त कर ली जाती थी और परिष्कृत होते होते वे सुसंस्कृत की श्रेणीं में आ जाते थे।

लोक कला सहज वृत्ति व प्रवाह से की गई कलाएं हैं जिसमें बहुत ही सरल नियमों के पालन से संस्कारित कर पीढ़ी दर पीढ़ी कला को प्रवाहित किया जाता रहा है। लोक कला के आकार प्रायः सरलीकृत व रेखीय होते हैं। यथार्थ के अनुकरण का बौद्धिक प्रयास नहीं होता और ये ही कारण है कि रूप सरलीकृत, विकृतिजनित व अमूर्त्तता की और जाते बनाए जाते हैं। प्रकृति का प्रत्येक आकार बनाया भी जाए तो भी उसमें शैलीगत विशिष्टता है जो विशिष्ट मानव जाति समूह के विश्वास के अनुसार होती है। ज्यामितीय रूपों व अलंकरणात्मक रूपों को भी रेखीय गति में बनाया जाता है। सपाट चटक रंग कलाएं ली जाती हैं। रंगों के चटक होने पर भी आपसी संयोजन संतुलित होता है। फड़, चित्र, मधुबनी (बिहार) की चित्रकला, बंगाल के पट चित्र, अपनी विशिष्ट शैली के लिए विख्यात हैं। अभिव्यक्ति का टेढ़ापन, कर्कशता, सीधापन, भावाभिव्यंजना, संयोजन में ज्यामितीय विभाजन, रंग योजनाओं में प्रतीकात्मकता से कुछ गुण आधुनिक कला के भी पहचाने जा सकते हैं, तब लगने लगता है कि कला का मूलतः कोई विभाजन नहीं बस कुछ तत्वों का कम - ज्यादा प्रयोग किया जाता है ।

लोककला में सृजनशील तत्वों का स्वाभाविक विकास होता है व स्वरुप सामूहिक व संगठित होता है । शास्त्रीय कला नियमों व सिंद्धांतो पर अविलम्बत रहते हुए तकनीकी कुशलता की अपेक्षा रखती है ।

यह भी हम कला के क्षेत्र में देख सकते हैं कि परम्परागत अध्ययन या सूजन से पृथक तत्व को समाज सदैव स्वीकार नहीं करता है, उसे क्रान्तिकारी भ्रष्ट आदि अनेक नामों से आलोचना होती है किंतु जब युगीन आवश्यकताओं व भावों की मांग यह उद्देश्य पूरा करती है जब वही भ्रष्ट श्रेष्ठ हो जाता है, नवीन आयाम हो जाता है बाकी पुरातन ।

राजस्थानी कला के विकास में देखा जा सकता है प्रचलित कला रूपों के प्रयोग, प्रचलित विषयों के कारण लोकप्रिय व श्रेष्ठ कला के रूप में जानी गई जबकि मूल लोककला ही था। मुगल कला ईरानी मूल की होने पर भी किस पर भारतीय कला के तत्वों को आत्मसात करती गई।

सीताकान्त महापात्र परम्परा व कलाकार, कला समय-समाज में लिखा है "रचना प्रक्रिया अनिवार्य रूप से परम्परा को अप्रत्यक्ष रूप से ग्रहण करने की योग्यता तथा अनुभव के नए क्षेत्रों का विचित्र संयोग है।"

संदर्भित ग्रंथ

1. डॉ. ऋतु जौहरी - भारतीय कला समीक्षा - चिन्तन और परम्परा
2. डॉ. अविनाश बहादुर वर्मा - भारतीय चित्रकला का इतिहास
3. डॉ. राकेश कुमार सिंह - चित्रण सामग्री
4. डॉ. ऋतु जौहरी - भारतीय कला समीक्षा
5. डॉ. राजेन्द्र वाजपेयी - सौन्दर्य
6. डॉ. गिर्राजकिशोर अग्रवाल (अशोक) -कला – निबंध